

संस्कृति और शिक्षा

प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल से
राजाराम भादू और विश्वंभर की
बातचीत

लेखक परिचय :

वर्तमान में संघ लोक सेवा आयोग के सदस्य हैं। इससे पूर्व जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में भारतीय भाषा केन्द्र के अध्यक्ष रहे हैं। प्रो. अग्रवाल लम्बे समय से लोक, संस्कृति और राजनीतिक विमर्शों में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जुड़े रहे हैं।

पुस्तक :

‘संस्कृति : वर्चस्व और प्रतिरोध’, ‘विचार का अनन्त’, ‘कबीर : साखी और सबद’ आदि पुस्तकें चर्चित रही हैं।

सम्पर्क :

45, दक्षिणापुरम, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-67

शिक्षा और संस्कृति का रिश्ता क्या है ? शिक्षा न सिर्फ समकालीन सामाजिक-राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों से प्रभावित होती है बल्कि संस्कृति का भी शिक्षा पर गहरा प्रभाव होता है। शिक्षा और संस्कृति का यह संबंध वास्तव में दुतरफा है। शिक्षा भी संस्कृति को प्रभावित करती है। यदि शिक्षा को चिन्तन, पुनर्चिन्तन और आलोचनात्मक चिन्तन का जरिया माना जाए तो दोनों के बीच एक द्वन्द्वात्मक संबंध उभर कर आता है। इसी से संस्कृति गत्यात्मक बनी रहती है और शिक्षा संदर्भ पाती है। प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल के साथ यह बातचीत इसी विषय पर केन्द्रित है कि शिक्षा और संस्कृति के संबंध को कैसे देखा जाए और स्कूली शिक्षा में इसे कैसे देखा जाए ?

प्रश्न : शिक्षा और संस्कृति के संबंध को लेकर एक बड़ा सवाल है, इस पर हिन्दी के विमर्श में बहुत कम बातचीत हुई है। संस्कृति विमर्श में तो गाहे-बगाहे चर्चा होती है लेकिन हमारे शिक्षा के परिदृश्य में इस पर बहुत कम बात होती है कि संस्कृति से शिक्षा का रिश्ता ठोस रूप में किस तरह का है ? संस्कृति और शिक्षा के अंतःसंबंध को आप कैसे देखते हैं ? आज हम मुख्यतः इसी विषय पर बातचीत को केन्द्रित करेंगे।

उत्तर : देखिए, जैसा कि आप जानते हैं, मैं कोई शिक्षा विशेषज्ञ तो हूँ नहीं। शिक्षा दर्शन और चिन्तन के बारे में मेरी जानकारी बहुत कम है। मैं शिक्षा के बारे में जो कुछ जानता हूँ वह मुख्य रूप से अनुभव आधारित है। शिक्षा के बारे में मेरी सैद्धान्तिक या शोधआत्मक (डिसकरसिव) जानकारी नहीं है। मेरे अनुभवों की जो छाप मेरे मन पर है उन्हीं के आधार पर मैं कुछ बात कह सकता हूँ।

मुझे लगता है कि सबसे पहले हमारे मन में संस्कृति की धारणा स्पष्ट होनी चाहिए। संस्कृति एक साथ कई तरह की चीजों की सूचना देने वाला शब्द है। एक तरफ तो संस्कृति वर्णनात्मक शब्द है और इससे हमें किसी समाज के रहन-सहन, खान-पान, उनकी मूल्य व्यवस्था; जैसी भी है अच्छी या बुरी, की बात करते हैं। दूसरी तरफ संस्कृति से समाज में जो विभिन्न स्तर हैं, सत्ता वर्चस्व या सत्ता जिस तरह चलती है उसकी बात आप करते हैं। संस्कृति के प्रसंग में तीसरी बात यह है कि आप सृजनात्मक या मनोरंजनपरक अभिव्यक्ति की बात करते हैं। कवि सम्मेलन सांस्कृतिक कार्यक्रम हैं। संगीत सांस्कृतिक कार्यक्रम है। आजकल जो मिमिकरी शो होते हैं वे भी सांस्कृतिक कार्यक्रम हैं। सर्जनात्मक अभिव्यक्ति या मनोरंजन भी सांस्कृतिक कार्यक्रम में आते हैं। मुझे लगता है कि जब हम शिक्षा के संदर्भ में संस्कृति की बात करते हैं तो दोनों-तीनों चीजों को ध्यान में रखकर बात करते हैं।

मेरी दृष्टि में संस्कृति का सबसे महत्वपूर्ण आशय मूल्यबोध या मूल्य व्यवस्था के संदर्भ में है। और चूंकि शिक्षा अंततः एक राजनैतिक सामाजीकरण है। अतः यह

बहुत महत्वपूर्ण सवाल बनता है कि हम शिक्षा के माध्यम से किस तरह के सांस्कृतिक मूल्यों को बच्चों तक या बड़ों तक पहुंचाना चाहते हैं। जो भी सांस्कृतिक मूल्य हों आप उन्हें उपदेश की तरह पहुंचा सकते हैं। उन्हें आप मनोरंजन की तरह पहुंचा सकते हैं और उन्हें आप व्यवहार करते हुए पहुंचा सकते हैं। गांधी जी की शिक्षा पद्धति में इस बात पर बल है कि शिक्षक और विद्यार्थी, दोनों ही, खेती या कपड़े बुनने का कुछ काम करेंगे। काम करना उनकी बुनियादी तालीम का एक हिस्सा है। वहां असली चीज क्या है ? गांधी जी के लिए यह एक मूल्य है जिसे चाहे हम सही मानें या गलत, लेकिन गांधी जी के लिए यह एक मूल्य है कि शारीरिक श्रम एक नैतिक कर्म है। शारीरिक श्रम उनके लिए अपने आपको फिट रखने के लिए किया जाने वाला व्यायाम नहीं है बल्कि उनके लिए शारीरिक श्रम का मतलब अपने जीवनयापन, जीविका अर्जित करने के लिए कुछ मेहनत है। चाहे फिर वह किसी भी रूप में हो। जाहिर है कि आप बुद्धिजीवी हैं, विद्वान हैं; अब मैं गांधी जी की बात को अपने ढंग से आगे बढ़ाने की कोशिश कर रहा हूँ, मेरे या आपके लिए शारीरिक श्रम करने की कोई मजबूरी नहीं है। मुझे शारीरिक श्रम करने की क्या जरूरत है ? हम अध्यापक या बुद्धिजीवी हैं, अपना काम तो बिना शारीरिक श्रम के भी चल सकता है। लेकिन यदि हम यह मानते हैं कि समाज में शारीरिक श्रम कर रहे लोगों के प्रति एवं शारीरिक श्रम के प्रति संवेदनशील होना चाहिए तो फिर उसके वही तीन तरीके, जो पहले मैंने आपसे कहे, ऐसा हम उपदेश के तौर पर कर सकते हैं कि श्रम और श्रमिक का सम्मान कीजिए। ऐसा हम कोई कहानी या कविता सुनाकर कर सकते हैं कि मजदूर का सम्मान कीजिए या ऐसा हम स्वयं अपने व्यवहार में शारीरिक श्रम को शामिल करके कर सकते हैं।

गांधी जी का जो तरीका है वह मुझे ज्यादा उपयुक्त लगता है। आप बहुत बड़े अफसर हैं, बहुत बड़े बुद्धिजीवी हैं या संघ लोक सेवा आयोग के सदस्य हैं। आपको वेतन तभी मिलेगा जब आप संघ लोक सेवा आयोग के बगीचे में कम से कम एक घंटे रोजाना और कुछ नहीं तो पौधों को पानी दें। ये आपकी नौकरी का हिस्सा हो। ऐसा नहीं हो सकता कि आप इसे शौकिया कर रहे हैं या आपको पौधे देखने का शौक है या व्यायाम करने का शौक है। यह आपकी सेवा शर्तों का एक हिस्सा है कि जिस तरह आप दफ्तर में बैठते हैं और दुनिया भर के प्रशासनिक मामलों में फैसले लेते हैं तो इस बात का भी एक हाजिरी रजिस्टर रखा जाए कि आपने पौधों में पानी दिया अथवा नहीं या गलियारे के एक हिस्से में झाड़ू लगाई या नहीं। तभी आपको अपने बढ़िया वेतन का चैक मिलेगा। यदि हम इस पर बात करें कि मूल्य क्या हैं तो कोई भी समाज इस पर सहमति बना सकता है कि श्रम का सम्मान एक मूल्य है। यदि श्रम का सम्मान

एक मूल्य है तो उसे शिक्षा में व्यवहार के धरातल पर शामिल करें। यदि जिज्ञासा मूल्य है तो उसे व्यवहार के धरातल पर शामिल करें। सवाल पूछने की प्रवृत्ति के साथ-साथ बड़ों का सम्मान करना और साथ-साथ छोटों का भी सम्मान करना एक मूल्य है। अपनी सारी की सारी सामाजिक परंपराओं और सामाजिक अनुभवों का सम्मान करना, उसके प्रति आलोचनात्मक होते हुए भी आदर और संवेदना के साथ उसे देखना, अगर ये मूल्य हैं तो इन्हें भी शिक्षा में व्यवहार के तौर पर शामिल करें। आप जो भी सांस्कृतिक मूल्य चिन्हित करें, मैं फिर से कहूँ, मुझे मौटेतौर पर शिक्षा में विमर्श की जानकारी न के बराबर है, आप इन्हें तीन तरह से संप्रेषित कर सकते हैं। एक, उपदेश की तरह। दूसरे, सृजनात्मक या मनोरंजनात्मक अनुभव की तरह और तीसरे, अपने वास्तविक जीवन में व्यवहार करते हुए। मुझे लगता है कि तीसरी प्रवृत्ति सांस्कृतिक मूल्यों को पहुंचाने में ज्यादा सहायक और ज्यादा कारगर होगी।

प्रश्न : इस मामले में जो मुख्य द्वंद्व उभर रहा है, जिसे हम सांस्कृतिक परिदृश्य में देख रहे हैं कि कुछ सर्वमान्य मूल्य हैं जिन्हें हम लोकतांत्रिक मूल्य कहते हैं, जिसमें समानता, स्वतंत्रता, सहयोग आदि हैं। सर्वमान्य मूल्य व्यवस्था पर जो मूल्य उभर कर आते हैं उनकी पैरवी करने वाले लोग भी बहुत हैं। दूसरी तरफ इसकी पैरवी करने वाले लोग भी हैं कि बच्चों का जो अपना सांस्कृतिक लोक है जिसको देशज संस्कृति (इंडिजिनियस कल्चर) कह सकते हैं। जब इन दोनों की बात सैद्धांतिक स्तर पर की जाती है तो कोई बुराई नहीं नजर आती। लेकिन जब ये परस्पर व्यवहार में जमीन पर आती हैं या शिक्षा की प्रक्रियाओं के तौर पर आती हैं तो टकराहटें होती हैं। और कई बार यह कहा जाता है कि जो सार्वभौमिक मूल्य व्यवस्था है उसकी आड़ में उसकी ग्लोबलाइज्ड हेजिमनी या जो एक वर्चस्व है, भूमंडलीकरण है वो भी कहीं न कहीं एक रास्ता बनाता है। तो इसको आप कैसे समझते हैं ?

उत्तर : देखिए, भूमंडलीकरण की बात तो हम बाद में करेंगे। पहली चीज तो यह है और मेरी यह पक्की धारणा है कि सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों की कल्पना के बिना कोई समाज अपनी देसी परंपरा को समझेगा ही नहीं। यह सही है कि सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों की अवधारणा पिछले-तीन चार सौ साल से एक बड़े यूरोपीय सांस्कृतिक वर्चस्व के उपक्रम में बनी हुई है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि सार्वभौमिक मूल्यों की धारणा ही दूषित हो गई है। आप मूल्यों के उपलब्ध वर्ग पर पुनर्विचार कर सकते हैं। अगर मैं इसके दो बहुत ही तीखे उदाहरण दूँ - कुछ लोग कहते हैं कि स्त्रियों का दायम दर्जा एक पूरे के पूरे सांस्कृतिक और धार्मिक समुदाय की अपनी देशज मूल्य व्यवस्था का हिस्सा है और उसमें छेड़छाड़ नहीं की जा सकती। आप जानते हैं कि हेड स्कार्फ का मसला यूरोपीय समाजों में बहुत बड़ा मुद्दा इस समय बन गया है। तुर्की का पिछला

सारा चुनाव हेड स्कार्फ के मुद्दे पर लड़ा गया था। और वहां धर्मनिरपेक्ष शक्तियों को बहुत तगड़ा झटका लगा है। क्योंकि जो सज्जन जीते हैं उनकी पत्नी हेड स्कार्फ पहनती है और उनका कहना है कि यह उनकी तुर्की पहचान का, उनकी इस्लामी पहचान का हिस्सा है। मैं तो हेड स्कार्फ पहनूंगी और सबको हेड स्कार्फ पहनना चाहिए।

अब इसमें सवाल यह पैदा होता है कि किसी भी समाज की सांस्कृतिक परंपरा का हिस्सा कुछ लोगों को जन्म से नीच मानना हो सकता है। किसी समाज की सांस्कृतिक परंपरा का हिस्सा नर भक्षण भी हो सकता है, और है। क्या हम इसे स्वीकार कर लें ? उत्तर आधुनिकता के हो-हल्ले में हम कुछ अनुभव की बात को भूल रहे हैं। मेरी दृष्टि में कोई भी विचार तब संदिग्ध हो जाता है जब वह मेरे अनुभव के अस्तित्व से इंकार करे। वह मेरे अनुभव की व्याख्या करे यह तो समझ में आता है। लेकिन वह मेरे अनुभव के अस्तित्व से ही इंकार करने लगे तो वह विचार मेरी दृष्टि में संदिग्ध हो जाता है। मिसाल के तौर पर, अगर सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों का कोई मतलब नहीं है तो सच यह है कि मेरे और आपके बीच बात संभव ही नहीं है। हम लोग आपस में बात कर रहे हैं इसका मतलब यह है कि सारे मतभेदों के बावजूद हमारे बीच एक सार्वभौमिक मानवीय मूल्य व्यवस्था है और वह है विचारों और मान्यताओं की परस्पर अनुदितता (ट्रान्सेबिलिटी) वरना हम बात ही नहीं कर सकते। व्यक्तियों से लेकर समूहों तक के बारे में यह बात सही है। इसलिए मैं यह मानता हूँ कि सार्वभौमिक मूल्य व्यवस्था की मूल अवधारणा को आप खारिज नहीं कर सकते। मैं यह भी कहने का साहस करूँ कि वे जितनी कम संख्या में हों उतना ही अच्छा है। कानूनों की तरह आपका मूल्य स्केल भी जितना कम या सीमित होगा वह उतना ही अच्छा होगा। सार्वभौमिक मानवीय मूल्य तो हैं, उनको आप नकार नहीं सकते।

अब रही बात भूमंडलीकरण और देसीपन आदि की। देखिए भूमंडलीकरण को लेकर एक बहुत ही कॉमनसेंसिकल एटीट्यूड हमारे बीच बना हुआ है। हम भूमंडलीकरण को पूरी तरह नकारात्मक लेंस से देखते हैं। यह मुझे स्वीकार नहीं है। हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि भूमंडलीकरण पूंजी के स्वभाव का अनिवार्य हिस्सा है। फिर आप यह तय कर लीजिए कि आप पूंजी और उससे जुड़े हुए विकास यानी औद्योगिक विकास, सांस्कृतिक विकास को स्वीकार न करना चाहेंगे। यदि आप इसको स्वीकार करेंगे तो आपको किसी न किसी रूप में भूमंडलीकरण को भी स्वीकार करना पड़ेगा। आज का भूमंडलीकरण कोई 20 साल से उत्पन्न हुई चीज नहीं है। यह तो 200 साल से चला आ रहा है।

मार्क्स को याद करना चाहिए, उन्होंने कहा कि 'कैपिटलिज्म इज द फर्स्ट वर्ल्ड सिस्टम'। यह मार्क्स का मानना है। तो भूमंडलीकरण तो

पूंजीवाद के स्वभाव से जुड़ा हुआ है। तीसरी बात इसी प्रसंग में है, हो सकता है इसमें आपके एकाध सवाल का जवाब और आ जाए। स्थानीय और वैश्विक के बीच आप संतुलन कैसे बनाएंगे ? मुझे लगता है उस संतुलन की खोज सबसे बड़ा सवाल है। मैं फिर से इसके लिए गांधी जी का उदाहरण दूंगा। गांधी जी पश्चिम, पश्चिमी सभ्यता और पश्चिमी प्रभावों के बहुत विरोधी थे। लेकिन अपनी राजनीति में पश्चिमी तौर-तरीकों का प्रयोग करने में वे जितने सिद्धहस्त थे दूसरा कोई नेता मुझे दिखाई नहीं पड़ता। जन गोलबंदी, जन संपर्क, संसदीय व्यवस्था, इस सब को कितनी सिद्धहस्तता से उन्होंने साधा। लक्ष्य उनका स्पष्ट था। यदि इस तरह के संतुलन की बात आज के प्रसंग में हम करें तो मान लीजिए एक सार्वभौमिक मूल्य है कि किसी भी मनुष्य को दूसरे मनुष्य से उसके जन्म संयोग के कारण ऊंचा या नीचा नहीं मानना चाहिए। चाहे जेण्डर का संदर्भ हो, चाहे जाति का, चाहे नस्ल का, चाहे धर्म का। आप किसी को ऊंचा-नीचा नहीं मान सकते और हर मनुष्य को उसके अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर मिलना चाहिए। इस सार्वभौमिक मूल्य को देशज परंपरा के सम्मान के साथ संतुलित संबंध में कैसे लाया जाए ? परंपरा के साथ सार्वभौमिकता का तालमेल कैसे बिठाया जाए ?

आपको ऐसी चीजें चिन्हित करनी पड़ेंगी जिनसे एक व्यापक सार्वभौमिक परिप्रेक्ष्य पर कोई विपरीत प्रभाव न पड़ता हो। जिनसे विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता हो उन्हें आप स्वीकार करेंगे। जिनसे विपरीत प्रभाव पड़ता हो उन्हें आप नहीं स्वीकार करेंगे।

आपके यहां (दिगन्तर में) व्याख्यान देते हुए मैंने एक टिप्पणी की थी। यह कहना मेरी दृष्टि में सचमुच निराधार, निरर्थक और मैं तो यहां तक कहूंगा कि गलत है, जो मुझे छठी कक्षा की सामाजिक विज्ञान की पुस्तक में पढ़ाया गया कि मूर्ति पूजा पाप है। क्यों पाप है ? आप यह कहें कि छूआछूत पाप है, इसे मैं स्वीकार करता हूँ। मूर्ति पूजा आपको क्यों पाप लगती है ? एक आदमी मूर्ति पूजा कर रहा है और वह एक नहीं पचास हजार मूर्तियों की पूजा कर रहा है तो वह आपका क्या लेता है ? यदि वह भी यह कहे कि जो मूर्ति पूजा नहीं करते वे पापी हैं तो गलत होगा! और इस तरह से देखा जाए तो आपकी सारी की सारी व्यवस्था एक अलोकतांत्रिक मूल्य की स्थापना कर रही है जब वह एक बेचारे निरीह मूर्ति पूजक को सिर्फ मूर्ति पूजा के कारण पापी कह रही है। वह क्यों पापी है ? यह सोचने की बात है।

लेटिन अमेरिका के आज्तेक और माया आदिवासी थे, वे 50 तरीके की मूर्ति पूजा करते हैं। वे 2000 देवताओं में विश्वास करते हैं। यह पाप नहीं है। इन विश्वासों के चलते, मेरी समझ से, माया और आज्तेक आदिवासियों का समूल नाश कर देना पाप है। उनकी मूर्ति पूजा पाप नहीं है। उनका नरभक्षण पाप था। यदि आप 20 वीं सदी

में नरभक्षण को पाप कहते हैं तो मैं समझ सकता हूँ। मूर्ति पूजा को क्यों पाप कहते हैं ? इसी तरह हेड स्कार्फ पर मुझे कोई आपत्ति नहीं है। लेकिन यदि हेड स्कार्फ पहनना सभी की मजबूरी बना दी जाए या हेड स्कार्फ के सवाल पर लड़कियों को प्रताड़ित करें तो यह पाप है। और यह पाप इसलिए है कि इससे आप मनुष्य की व्यक्ति सत्ता का अतार्किक ढंग से और बिना जागरूक सहमति के उल्लंघन कर रहे हैं। यह नहीं चलेगा। किसी की इच्छा है हेड स्कार्फ पहनने की तो उसे आप जरूर पहनने दें। मैं इसको असभ्यता मानूंगा कि आप किसी को मजबूर करें कि वह हेड स्कार्फ न पहने। लेकिन आप किसी को मजबूर करें कि वह हेड स्कार्फ पहने और नहीं पहनने पर आप उस पर तेजाब फेंकें। यह क्रूरता है-असभ्य और असभ्य ! आप मूर्ति पूजा करते हैं कीजिए। आप अपने आपको ब्राह्मण होने के नाते संसार में सर्वोच्च मानते हैं मुझे इससे कोई आपत्ति नहीं है, आप अवश्य मानें। लेकिन आप दूसरों को खामखाह नीच मानें तो फिर मुझे लगता है कि आधुनिक राज्य को यहां हस्तक्षेप करना चाहिए।

भारत जैसे समाज में आधुनिक राज्य को अपने हस्तक्षेप को हर सावधानी से परिभाषित करना चाहिए। मैं 25-30 साल के अपने सार्वजनिक जीवन और चिन्तन के अनुभव से इस नतीजे पर पहुंचा हूँ कि भारत की पारंपरिक संस्कृति में भारतीय आधुनिकता का और आधुनिक राज्य सत्ता का का हस्तक्षेप सुविचारित नहीं रहा है। यह बहुत ही ऊटपटांग किस्म का रहा है।

प्रश्न : इससे एक चीज और उभर सकती है कि यदि हम सार्वभौम मूल्यों को स्वीकार करते हैं और उनको हम स्कूल और स्कूल की परिधि में लाते हैं तो जाहिर है कि स्कूल में एक मूल्य संरचना आ गई। सुविधा के लिए इसे हम स्कूल की संस्कृति कह सकते हैं। स्कूल की संस्कृति और समुदाय की संस्कृति में, समुदाय की अपनी चली आ रही संस्कृति में, एक अनिवार्य द्वंद्व उभरता है। स्कूल को समुदाय से आगे जाना होगा क्योंकि अगर वह मूल्य व्यवस्था को लक्ष्य कर रहा है। उस पर यह द्वंद्व उभरता हुआ ज्यादा नजर नहीं आ रहा है। और यदि उभरता हुआ नजर नहीं आ रहा है इस पर ये भी लगता है कि इन स्कूलों की मूल्य संरचना यथास्थितिवादी है।

उत्तर : यह द्वंद्व विकट रूप से मौजूद है। एनसीईआरटी की किताबों को लेकर जो हर वर्ष विवाद की परंपरा का पालन होता है, वो असल में इस द्वंद्व का ही सूचक है।

प्रश्न : हमें लगता है कि गांधी जी की बुनियादी शिक्षा की भी बहुत स्वीकार्यता समुदाय में नहीं दिखती और उसकी असफलता का एक बड़ा कारण यह भी है। स्कूल में जब हम हर बच्चे की गरिमा की बात करते हैं कि हर बच्चे की अपनी व्यक्ति इयत्ता है और यह विवेक पर

आधारित है चाहे फिर वह लिंग या जाति से हो। तो स्कूलिंग में आपको क्या लगता है कौन सी चीजें ऐसी रही हैं ?

उत्तर : देखिए, इसके बारे में मैं कुछ बातें कहना चाहता हूँ। हो सकता है आपको ये बातें कुछ असंबद्ध सी लगें। एक तो स्कूल की संस्कृति और समुदाय की संस्कृति के बीच जो द्वंद्व है वह भारत जैसे समाज या दुनिया के किसी भी समाज में बहुत बड़ी सच्चाई है। अब इसके हल करने के कुछ तरीके हैं और आजकल जो तरीका बहुत लोकप्रिय है और मजेदार बात यह है कि भारत में बहुत से लोग उस तरीके की वकालत करते हैं। और जब उसके नतीजे यूरोप में दिखते हैं तो लोगों के पसीने छूटने लगते हैं। जैसे हमारे यहां इसकी वकालत करने वाले बहुत से वामपंथी और प्रगतिशील मित्र हैं कि विभिन्न समुदायों की जो अपनी मूल्य व्यवस्था है, खासकर के अल्पसंख्यकों की, उसको संरक्षित करते हुए शिक्षा होनी चाहिए। ऐसा कहा जाता रहा है कि मदरसा व्यवस्था में राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए और इसे बहुत ही आकर्षक प्रगतिशील मत माना जाता है। आज के इंग्लैण्ड में फेथ (धार्मिक) स्कूल होते हैं और टोनी ब्लेयर ने वहां ये सिलसिला शुरू किया था। आप इंग्लैण्ड के किसी भी समझदार व्यक्ति से बात कर लीजिए, मैंने करके देखी है। पहले मैंने फेथ स्कूल के बारे में पूछा। फेथ स्कूल पर वे बहुत नाराज थे। जब मैंने भारत में मदरसों या ऐसी चीजों के बारे में पूछा तो उन्होंने कहा नहीं-नहीं यह तो जरूरी है। फेथ स्कूल क्या हैं ? ये मदरसे का एक ब्रिटिश संस्करण भर हैं। धार्मिक स्कूल का मतलब यह है कि हर समुदाय अपना स्कूल अपने ढंग से चला सकता है। इसका मतलब यह है कि एक इस्लामिक समुदाय अपने स्कूलों में यह सिखा सकता है कि कुरान ईश्वरीय सत्ता के अंतिम शब्द हैं। यहां समुदाय की संस्कृति और स्कूल की संस्कृति के बीच का द्वंद्व साफ दिखता है। मुझे लगता है और जैसा मैंने आपसे कहा कि एनसीईआरटी की किताबों पर होने वाले झगड़े असल में इसी से जुड़े हैं। हर बार जब विवाद होता है चाहे वो वामपंथी करते हों चाहे दक्षिण पंथी; तर्क हमेशा यही होता है कि मूल्यों के खिलाफ एनसीईआरटी की किताबें जा रही हैं। कभी हम कहते हैं कि एनसीईआरटी की किताबें लोकतांत्रिक या धर्मनिरपेक्षता के मूल्यों के खिलाफ जा रही हैं। कभी हम कहते हैं कि राष्ट्रवादी और सांस्कृतिक मूल्यों के खिलाफ जा रही हैं। इन दोनों तीनों चीजों को ध्यान में रखें तो मेरी समझ से आपके जैसी संस्थाएं जो प्रयोगधर्मी हैं और काम भी करती हैं उनके लिए जरूरी है कि एक बार फिर से मूलभूत मुद्दों पर लौटें। मैं यह मानता हूँ कि इस देश में अब एक आंदोलन चलना चाहिए कि हर बच्चे को 12 वीं कक्षा तक या जिसको भी आप स्कूलिंग कहते हैं। वहां से निकलने के पहले कुछ बुनियादी विषय आप चिन्हित कर दीजिए। मैं मानता हूँ कि जिसमें बाकी और विषय जो भी हों, तीन विषय

अनिवार्य होने चाहिए। गणित, दर्शनशास्त्र या नीतिशास्त्र और भाषा एवं साहित्य। फिर चाहे आप 12 वीं कक्षा में सूचना तकनीकी चुन रहे हैं या चाहे कॉमर्स चुन रहे हैं। इन तीन विषयों से आपका पिण्ड नहीं छूटने वाला। आपको दर्शनशास्त्र किसी न किसी रूप में पढ़ना पड़ेगा। आपको किसी न किसी रूप में साहित्य पढ़ना पड़ेगा। फिर चाहे साहित्य में आप हिन्दी पढ़ें या चीनी, तमिल या फारसी। जो भी आप पढ़ना चाहें पढ़ें। लेकिन साहित्य आपको पढ़ना पड़ेगा। आजकल बहुत ही विचित्र तरीके से 'प्रायोगिक' शब्द का इस्तेमाल होने लगा है। मतलब प्रायोगिक हिन्दी, प्रायोगिक अंग्रेजी। ये प्रायोगिक-त्रायोगिक सब उसके अंदर है अलग से इनका कोई मतलब नहीं है। मैं यह क्यों कह रहा हूँ कि ये तीन चीजें आपको अनिवार्यतः पढ़नी चाहिए। जो भी बच्चा या बच्ची ये तीन चीजें अनिवार्यतः पढ़ेगा और जो स्कूल इन तीन चीजों को अनिवार्यतः पढ़ाएगा, मैं यह मानता हूँ कि वह समुदाय के मूल्यों और स्कूल के मूल्यों के द्वंद्व को ज्यादा संवेदनशीलता से समझ सकेगा। क्योंकि दर्शनशास्त्र, साहित्य और गणित तीनों एक साथ यदि आप पढ़ते हैं तो आपको बौद्धिक चिन्तन की क्षमताएं हासिल होंगी। आपको संवेदनशील चिन्तन की क्षमताएं भी हासिल होंगी। फिर यह स्थिति नहीं होगी जो हिन्दुस्तान में आधुनिक स्कूल व्यवस्था लागू होने पर पारंपरिक समाज और आधुनिक प्रगति के द्वंद्व की चुनौती जो अकबर इलाहाबादी के शेर में व्यक्त हुई थी कि 'हम ऐसी कुल किताबें काबिले जव्ती समझते हैं जिनको पढ़के लड़के बाप को खव्ती समझते हैं'। यह द्वंद्व है। बाप अगर यह कहता है कि धरती स्थिर है और सूरज देवता पृथ्वी के चारों ओर घूमते हैं और लड़का आकर यह कहता है कि नहीं ऐसा नहीं है। तो यह द्वंद्व होगा। लेकिन उस लड़के को साथ-साथ आप साहित्य भी पढ़ाएं तो शायद वह लड़का या लड़की यह महसूस कर सके कि इस एक वक्तव्य के कारण उसके पिता की बाकी सारी बातें मूर्खतापूर्ण साबित नहीं हो गई हैं। इस एक 'अवैज्ञानिक' वक्तव्य का यह मतलब नहीं है कि वह पिता खेती के बारे में भी ठीक से नहीं जानता है। एनसीईआरटी की बैठक में पिछले दिनों बात हुई थी और इस पर वामपंथी विद्वानों ने कुछ विचित्र बातें कहीं थी कि साहब, आप जब यह कहते हैं कि अपने परिवेश से जुड़िए, अपनी परंपरा से जुड़िए और पारंपरिक विद्याओं से जुड़िए तो आप बहुत प्रतिक्रियावादी बात कर रहे हैं। मुझे यह बात बहुत ही निरर्थक लगती है।

खांसी, जुकाम या जिसको आजकल हम लोग वायरल कहते हैं उसमें तुलसी से बेहतर कोई एंटीबायोटिक नहीं है। यह जानने के लिए मेरी मां को किसी स्कूल में नहीं जाना पड़ा। हालांकि बहुत-सी चीजें उसके स्वभाव में अवैज्ञानिक किस्म की थीं। लेकिन उसको पता था कि यदि आपको चर्म रोग हो गया है तो आप नीम की पत्ती चबाइए

और नीम के पानी से नहाइए। इससे बढ़िया कोई दवाई हो नहीं सकती। मेरी मां किसी एक प्रसंग में गलत रही हो सकती है, नासमझ रही हो सकती है लेकिन सभी प्रसंगों में नहीं हो सकती। यह संवेदनशीलता मुझे तब मिलेगी जब मैं टैगोर की कोई कहानी पढ़ूंगा या जब मैं प्रेमचन्द की कोई कहानी पढ़ूंगा। तब मुझे लगेगा कि मनुष्य को किसी एक चीज के आधार पर मशीनी ढंग से खारिज नहीं किया जा सकता। मैं यही कहना चाहता हूँ कि दुनिया की किसी भी संस्कृति में सबसे बड़ा खतरा होता है संवेदनहीनता का। और कोई संस्कृति एक रूप होती भी तो नहीं है। आजकल के अस्मिता विमर्श से मैं दुःखी रहता हूँ, और आप इससे अच्छी तरह वाकिफ हैं कि आप ब्राह्मणवाद या ब्राह्मण की बात कहते हैं तो आप क्या कह रहे हैं। आप वही कह रहे हैं जो आज से 200 साल पहले तक तथाकथित ब्राह्मणवाद कहता था कि कोई व्यक्ति इसलिए मूर्ख है कि वह जाति विशेष से संबंधित है। आप यही कहे रहे हैं कि कोई व्यक्ति इसलिए दुष्ट है क्योंकि वह किसी जाति विशेष से संबंधित है। यह सही नहीं है। और इसलिए यदि किसी प्रसंग में आधुनिक शिक्षा से वंचित व्यक्ति एक अवैज्ञानिक बात कर रहा है तो यह सही नहीं है कि आप उसके सारे जीवन अनुभव पर ही प्रश्न चिन्ह लगा दें।

मुझे लगता है कि केवल पाठ्यक्रम के स्तर पर ही नहीं बल्कि समग्र स्तर पर इसे स्वीकार करना पड़ेगा। और इसीलिए आपने गांधी जी की बुनियादी तालीम की असफलता की जो बात कही, वह ठीक है। उसकी असफलता का मूल कारण यही था कि समुदाय के साथ जुड़ नहीं पाई। आज भी आपका स्कूल कहां जुड़ पा रहा है। समुदाय से जुड़ने का काम अच्छा स्कूल भी नहीं कर पाता है। साधारण स्कूल को तो छोड़िए। कैरियर ओरियन्टेड स्कूल हैं वे भी समुदाय के साथ कहां चल पाते हैं। एक हद तक वे बच्चों का कैरियर बना देते हैं। बस इतना ही उपयोग है उसका। बाकी समुदाय के जीवन में उसका क्या फर्क पड़ता है? बच्चों के जीवन में क्या गहरा फर्क पड़ता है? असली सवाल तो यह है। मुझे लगता है कि इस बात पर लोगों को बल देना चाहिए कि ये तीन चीजें स्कूल के बच्चे को अनिवार्यतः जाननी चाहिए - गणित, दर्शन और साहित्य। उसके बाद फिर चाहे आप तय कर लें कि आपको विज्ञान पढ़ाना है या कुछ और। इन तीन चीजों से सन्नद्ध जो व्यक्ति होगा, मुझे उम्मीद है कि वह ज्यादा तार्किक और मानवीय होगा।

प्रश्न : इससे जुड़ा एक सवाल यह है कि यदि शिक्षक की भूमिका पर बात करें। यदि शिक्षक अपना पारंपरिक किस्म का कार्य करता है और समुदाय यह उम्मीद करता है कि वह विषय शिक्षण कराए और बच्चों को अच्छे नंबर दिलाए। शिक्षक की एक भूमिका तो यह है। दूसरी तरफ जिन मूल्यों की बात हम कर रहे हैं उन्हें वह बच्चे में ले जाए कि बच्चे विवेकवान बनें, खुद सवाल कर सकें और अपने

समुदाय की जो सांस्कृतिक एकरूपता सतह पर दिखाई देती है और उसके जो अंतः निहित विरोधाभास हैं उन्हें भी अपनी प्रश्नाकुलता से खोल सके। तो ये विचार शिक्षक की पेशेवर भूमिका को बदलता है, बढ़ाता है या इसको सुविधा के लिए कह सकते हैं कि सक्रियता की मांग करता है। इसको लेकर आपको क्या लगता है, किस तरह की तैयारी होनी चाहिए ?

उत्तर : अभी पिछले दिनों मैं एक ऐसे लंच में था जिसमें बहुत उच्च पदाधिकारी, बड़े अफसर मौजूद थे। वहां एक सज्जन ने कहा कि साहब (वह बेचारा यह कहते समय शायद भूल गया कि मैं वहां बैठा हूँ) जेएनयू के शिक्षकों के पास कोई काम-धाम तो होता नहीं है इसलिए ये टेलिविजन पर और न जाने कहां-कहां पर घूमते रहते हैं। पढ़ाते-लिखाते तो हैं नहीं। दूसरा कोई जब तक संकेत करे कि आप ये बात गलत जगह कह रहे हैं, बात वे कह चुके थे। मैंने उनसे कहा कि आपकी शिकायत वाजिब है। लेकिन दिक्कत यह है कि जेएनयू के प्रोफेसर यह नहीं मानते कि प्रोफेसर का काम केवल कक्षा में व्याख्यान देना भर है। मैंने कहा, हम लोग यह मानते हैं कि प्रोफेसर का काम ज्ञान के उत्पादन और आदर्श रूप में उसके निःशुल्क वितरण का भी है। जब मैं कक्षा में पढ़ाता हूँ तो मुझे उसका वेतन मिलता है लेकिन जब मैं टेलिविजन पर जाकर आपको या सारे देश को जो ज्ञान देता हूँ उसका मुझे आनुपातिक वेतन नहीं मिलता। 1000 रुपया मिलता है और उस ज्ञान का लाभ एक करोड़ लोगों को होता है। मैं ऐसा करके देश के ऊपर उपकार कर रहा होता हूँ। बहुत कम पैसे लेकर आप लोगों को ज्ञान दे रहा होता हूँ। आपने यह कैसे मान लिया कि प्रोफेसर का काम कक्षा में व्याख्यान देना भर है। मैंने कहा जिस दिन प्रोफेसरों का काम केवल कक्षा में व्याख्यान देना हो जाएगा उस दिन देश के लिए, किसी भी देश के लिए, सचमुच चिंतनीय स्थिति होगी। कक्षा में पढ़ाना तो हमारा काम है ही लेकिन ज्ञान का, बहस का, विमर्श का, चिन्तन का समाज में प्रसार करना भी एक प्रोफेसर का काम होता है। इसीलिए शिक्षक को फालतू की बेगार से मुक्त किया जाना चाहिए। और मुझे अच्छा लगा कि कम से कम छत्तीसगढ़ ने इस सिलसिले में पहल की है। छत्तीसगढ़ ने यह घोषणा की है कि अब शिक्षकों से बेगार नहीं ली जाएगी। दुनिया भर का कोई भी काम हो - पोलियो टीकाकरण से लेकर मतदाता सूची निर्माण तक, बस शिक्षक को लगा देते हैं। स्कूल शिक्षक को इन चीजों से मुक्त किया जाना चाहिए। और स्कूल शिक्षक को, जैसा कि आजादी के दिनों और आदर्शवाद के दिनों में हुआ करता था, सचमुच समुदाय के एक सक्रिय सदस्य और समुदाय के बौद्धिक नेता के रूप में उभरना चाहिए। ये उनकी स्वाभाविक भूमिका है। यह उसके व्यवसाय की नैतिकता की मांग है।

मैं एक प्रोफेसर हूँ या आज की तारीख में सेवानिवृत्त प्रोफेसर हूँ

क्योंकि कार्यकाल के बाद प्रोफेसर सेवानिवृत्त होते हैं। लेकिन क्यों यह कहा जाता है कि, प्रोफेसर कभी सेवानिवृत्त नहीं होता। इसका मतलब यह नहीं है कि हम जिन्दगी भर चयन समितियों में बैठते रहें। प्रोफेसर सेवानिवृत्ति के बाद भी ज्ञान को बांटते रहते हैं। अभी मैं जयपुर आया हुआ हूँ। अभी मैं एक शोध में व्यस्त हूँ। कल मैं कलानाथ शास्त्री से मिलने गया। मैं उनसे दुनियाभर की संस्कृत साहित्य की और दूसरी बातें करता रहा। दिलचस्प बातचीत हुई। आज मैं बालानन्द मठ गया। इस अर्थ में प्रोफेसर कभी सेवानिवृत्त नहीं होता। मैं सेवानिवृत्त हो चुका हूँ लेकिन मैं एकेडमिक काम बन्द नहीं करूंगा बल्कि लगभग अगले छह साल में मैं उससे ज्यादा काम करूंगा जितना कि मैंने पहले किया है।

इसी तरह स्कूल शिक्षक सिर्फ कक्षा के अंदर ही नहीं पढ़ाता। आप आजादी के दिनों या आजादी के आरंभ की कहानियां पढ़ लीजिए। स्कूल शिक्षक और डाकिया ये समुदाय में अपनी भलीभांति तयशुदा व्यावसायिक भूमिका से चार कदम आगे थे। स्कूल शिक्षक केवल कक्षा में बच्चों को नहीं पढ़ाता है। स्कूल शिक्षक गांव में यह बताता है कि, चेचक को माता की देन मानना ठीक नहीं है। आपको पूजा-वूजा करनी है तो कर लें लेकिन इसे डॉक्टर को दिखा लें। स्कूल शिक्षक का काम यह भी है कि लोग जानें पोलियो की दवा पिलाने से अल्लाह मियां नाराज नहीं हो जाते। यह बच्चे के स्वास्थ्य के लिए जरूरी है। यह स्कूल शिक्षक की भूमिका है। लेकिन स्कूल शिक्षक की भूमिका यह नहीं है कि वह मतदाता सूचियां बनाए या चुनाव करवाए या जब मुख्यमंत्री जी गांव में पधारें तो उनके लिए भोजन-पानी की व्यवस्था करे। इस भूमिका से आप उसे मुक्ति दीजिए और स्कूल शिक्षक की भूमिका का सही दिशा में विस्तार कीजिए। और इस मामले में मैं मानता हूँ कि आप लोगों को मॉनीटर करना चाहिए। छत्तीसगढ़ के उदाहरण पर ध्यान दिया जाना चाहिए और निगाह रखनी चाहिए कि वहां उनकी घोषणा पर सचमुच अमल होता है या नहीं। और इसी तरह बाकी राज्यों पर भी नैतिक दबाव डाला जाना चाहिए कि सभी राज्य सरकारें और केन्द्र सरकार यह करें ताकि शिक्षक इस प्रकार की बेगार से बचें।

आप लोग इस पर सचमुच अच्छा काम कर सकते हैं। मैं तो आप लोगों के स्कूल देखकर सचमुच प्रभावित हुआ हूँ। आप लोग इस पर जोर दीजिए। आप लोगों की शिक्षा के क्षेत्र में आवाज भी है और आप लोगों को सम्मान की दृष्टि से भी देखा जाता है।

प्रश्न : लेकिन आप शिक्षक की जिस भूमिका की बात कर रहे हैं वह ठीक तो है लेकिन यह भी सच है कि स्वयं शिक्षक भी उन्हीं चीजों से ग्रसित हैं जिनसे आप बाहर आने की बात कह रहे हैं।

उत्तर : देखो, किसी को तो कहीं पहला झटका देना पड़ेगा। किसी को तो यह आवाज उठानी पड़ेगी। ♦